सार्थक एवं आनंदमय वृद्धावस्था

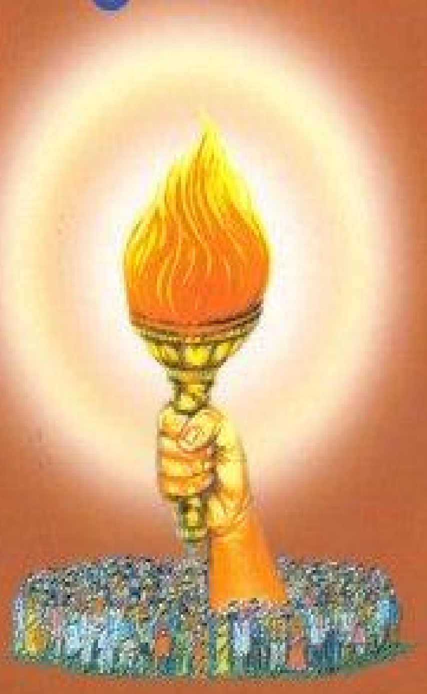

सार्थक एवं आनंदमय
वृद्धावस्था

लेखक :

ब्रह्मवर्चस्

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ७.०० रुपये

- आप यदि आयु के पचास वर्ष पार करने जा रहे हैं, तो इस पुस्तक का अध्ययन अवश्य करें। इस पर चिंतन-मनन से आपके भविष्य के जीवन की सार्थकता सुनिश्चित हो सकेगी।
- यदि आप अभी युवावस्था में ही हैं, गृहस्थ हैं, विद्यार्थी हैं, तब तो यह पुस्तक और अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। वर्तमान जीवनचर्या में, आचार-विचार में, चिंतन और चरित्र में यदि किसी प्रकार की त्रुटि है, तो उसे दूर कर सकेंगे। भविष्य की समुचित तैयारी कर सकेंगे। अपने साथ-साथ परिवार एवं समाज का भी कल्याण कर सकेंगे।
- यदि आप एक समाज सेवक हैं, तब तो आपका दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। समाज के अन्य विचारशील परिजनों को संगठित करके वृद्धजनों के कल्याण हेतु रचनात्मक पहल करने में यह पुस्तक बहुत ही सहायक होगी।
- वृद्धावस्था भगवान् का एक वरदान है। इसकी गरिमा को समझें एवं इसे उपयोगी और आनंदमय बनाएं।

वृद्ध कौन ?

संसार में प्रत्येक जीव की जीवनयात्रा में वृद्धावस्था एक आवश्यक पड़ाव है। उसी प्रकार मनुष्यों में भी यह एक सामान्य एवं प्राकृतिक स्थिति है। जिसने भी जन्म लिया है, समय के साथ उसके शरीर का विकास भी अवश्य होगा। यह तो संभव ही नहीं है कि वह सदैव एक अबोध बालक या युवा ही बना रहे। आयु बढ़ने के साथ शारीरिक क्षमताओं का ह्रास प्रारंभ होगा और वृद्धावस्था आएगी भी। विकास की इस स्वाभाविक गति से हम सभी परिचित हैं।

फिर भी हम देखते हैं कि अधिकाँश व्यक्ति बुढ़ापे के नाम से ही घबराते हैं। यह जानते हुए भी कि आयु बढ़ने के साथ ही बुढ़ापा तो आना ही है, वे मानसिक रूप से अपने को इसके लिए तैयार नहीं करते। बुढ़ापा जहाँ आयु बढ़ने से आता है वहीं मानसिक रूप से भी। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो ८०-९० वर्ष की आयु में भी मन में जवानों जैसी उमंग व उत्साह से भरपूर अपनी बची-खुची क्षमताओं का सदुपयोग करते रहते हैं। वहीं अनेकों तो ३०-४० वर्ष की आयु में ही थके हुए, ओजहीन, उत्साहहीन, दीन-दुखी दिखाई देते हैं और हर समय नैराश्य में डूबे रहते हैं।

परमपिता परमात्मा ने प्रत्येक जीव का शरीर ऐसा बनाया है कि वह एक निश्चित काल तक कार्यशील रहता है। इसे ही उस जीव की आयु कहते हैं। संसार में जितने भी जीव-जंतु हैं, उन सभी की निश्चित आयु है। कुछ कीट-पतंगों का जीवन तो केवल कुछ घंटों का ही होता है जबकि व्हेल मछली तीन सौ वर्ष तक जीवित रहती है। इसी प्रकार भगवान् ने मनुष्य शरीर की आयु सामान्य रूप से सौ वर्ष निर्धारित की है। आयुर्वेद का तो यह सिद्धांत है कि सौ वर्ष तक मनुष्य-शरीर युवा रहता है। सौ वर्ष से १२० वर्ष तक वृद्धावस्था तथा उसके बाद जरावस्था होती है, जब शरीर जर्जर हो जाता है। यह तभी संभव है, जब प्रारंभ से ही आयुर्वेद के नियमों के अनुसार संयमी एवं सात्त्विक जीवनचर्या का पालन किया गया हो। यजुर्वेद में भगवान् से यह स्पष्ट प्रार्थना की गई है कि सूर्यदेव की सहायता से हम सौ वर्ष की आयु प्राप्त करें, सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक कानों से सुनें, सौ व्रर्ष तक उत्तम वाणी बोलें, सौ वर्ष तक दीनता रहित रहें और सौ वर्ष तक शरद ऋतुओं को पूर्ण करते हुए उससे भी अधिक समय तक आनंदपूर्वक रहें।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शत ꣳ श्रृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।

(यजुर्वेद ३६/२४)

हम सौ वर्ष से अधिक तक जीवित ही न रहें, हमारी आँख, कान, वाणी आदि सभी ज्ञानेंद्रियाँ एवं कर्मेंद्रियाँ भी भलीभाँति कार्यरत रहें।

इसी उद्देश्य से ऋषियों-मनीषियों ने मानव जीवन के सौ वर्ष की अवधि को चार काल खंडों में बाँटकर जीवनचर्या का निर्धारण किया था-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। ब्रह्मचर्य के पच्चीस वर्ष की अवधि में नियम-संयम का कठोर अनुशासन पालन करते हुए उत्तम पुष्ट शरीर की आधारशिला रखी जाती थी

वहीं बौद्धिक एवं मानसिक विकास का भी अधिकाधिक प्रयास किया जाता था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए ५० वर्ष की आयु तक व्यक्ति अपनी क्षमताओं, प्रतिभाओं का यथोचित उपभोग करते हुए सुख-चैन का जीवन व्यतीत करते थे। साथ ही पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वहन भी करते थे। पर इसके बाद वानप्रस्थ एवं संन्यास परंपरा के अनुसार समाज की निःस्वार्थ सेवा के कार्य हेतु स्वयं को समर्पित करना होता था। इस जीवन शैली के अनुसार मनुष्य वृद्धावस्था को भी उसी आनंद से भोगता था जैसे अपने बचपन और जवानी को। अपने अनुभव और ज्ञान का लाभ सभी में बाँटते हुए वह समाज के एक उपयोगी अंग के रूप में पूजित व सम्मानित होता था।

वर्तमान समय में सामान्य रूप से साठ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों को वृद्ध समझा जाता है। उनके कल्याण के लिए शासन द्वारा भी अनेक योजनाएँ चलाई जाती हैं। बुढ़ापे का संबन्ध मनुष्य के शरीर की आयु से भी अधिक उसके मन से है। इस तथ्य पर हम यदि ध्यान रखें तो वृद्धावस्था की समस्याओं को भलीभाँति समझ सकेंगे और उनका निराकरण भी कर सकेंगे। इस दृष्टि से देखने पर वृद्धों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

१. जो मन से भी स्वस्थ हैं और शरीर से भी स्वस्थ

वर्तमान समय में ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं। महात्मा गाँधी, पं. मदनमोहन मालवीय, श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, श्री जमुना लाल बजाज इसी श्रेणी के वृद्ध पुरुष हुए हैं। शुकदेव आश्रम, मुजफ्फर नगर के स्वामी कल्याण देव जी इस समय १२८ वर्ष की आयु में भी समाज सेवा में सक्रिय हैं। गौरधाम राधाकुंड मथुरा के श्री बृजसुंदर दास जी महाराज १०५ वर्ष की आयु में भी अपने जीवन का रचनात्मक सदुपयोग कर रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों के जीवन चरित्र को देखें तो पता चलता है कि उन्होंने बचपन से ही अपने जीवन में संयम की साधना की थी।

स्वयं ही एक शिक्षक की भाँति अपने शरीर को कठोर अनुशासन में बाँध कर रखा था जिसके फलस्वरूप उनमें ओजस, तेजस और वर्चस् की अभिवृद्धि हुई, जिसका आनंद उन्हें वृद्धावस्था में भी प्राप्त होता रहा।

२. जो शरीर से अस्वस्थ हैं पर मन से स्वस्थ हैं

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में विख्यात् है कि वे कैंसर की भयंकर पीड़ा झेलते रहे, पर इस रोग का कोई प्रभाव उन्होंने अपने मन पर नहीं पड़ने दिया। अंत समय तक पूरी लगन से साधना एवं समाज सेवा के कार्य में जुटे रहे। इसी प्रकार अनेक संत, महात्मा, महापुरुष हुए हैं जिन्होंने शारीरिक अस्वस्थता के चलते हुए भी कभी अपने को असहाय वृद्ध नहीं समझा। हमारे आसपास ही कुछ ऐसे व्यक्ति आज भी मिल जाएंगे जो अस्वस्थता, विकलांगता एवं अभाव की परिस्थितियों को भी हरि इच्छा मानकर हर हाल में प्रसन्न दिखाई देते हैं। वे न तो समाज पर बोझ होते हैं और न अपने परिवार पर।

३. जो शरीर से स्वस्थ हैं पर मन से अस्वस्थ

समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या सर्वाधिक है। वृद्ध ही नहीं अनेक युवा भी इसी प्रकार के होते हैं। उनके मन में संतुष्टि का भाव तो कभी आता ही नहीं। संसार में सर्वत्र उन्हें बुराई ही दिखाई देती है और प्रत्येक व्यक्ति शत्रु जैसा प्रतीत होता है। उनकी इच्छाएँ, कामनाएँ असीमित होती हैं और अपने स्वार्थ व लोभ के अतिरिक्त उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। वे प्रत्येक व्यक्ति से अपनी सेवा एवं इच्छापूर्ति की आशा तो रखते हैं पर स्वयं किसी को फूटी कौड़ी भी नहीं दे सकते। वे हर समय कुढ़ते-खीजते रहते हैं, स्वयं भी दुःखी होते हैं तथा दूसरों को भी दुखी करते हैं।

४. जो शरीर से भी अस्वस्थ हैं और मन से भी अस्वस्थ हैं

ऐसे व्यक्ति परिवार एवं समाज दोनों के लिए विकट समस्या उत्पन्न कर देते हैं। वे अपनी शारीरिक दुर्बलता एवं अक्षमता

का दोष भी दूसरों पर ही मढ़ते हैं। उनका आचरण अधिकतर एक विक्षिप्त के समान होता है। ईर्ष्या, द्वेष, खीझ आदि उनकी दिनचर्या के अंग बन जाते हैं। उनका चिंतन सदैव नकारात्मक होता है और वे कभी किसी की भलाई के बारे में सोच भी नहीं पाते।

५. अत्यधिक जर्जर और असहाय

कुछ वृद्ध व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर लम्बी बीमारी आदि के कारण अत्यन्त जर्जर हो जाता है। मानसिक रूप से ठीक-ठाक होते हुए भी वे शारीरिक रूप से असहाय होते हैं।

वृद्धावस्था एवं आर्थिक स्थिति

आयु बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य की अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही कम हो जाती हैं। खाने-कपड़े पर भी अधिक व्यय नहीं करना होता। फिर भी आर्थिक संबल तो हरेक को चाहिए ही। आर्थिक दृष्टि से वृद्ध व्यक्तियों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है-

(क) जिन्हें कोई आर्थिक समस्या नहीं है। सामान्य रूप से नौकरी-व्यवसाय, कृषि आदि से व्यक्ति इतना कमा लेता है कि वृद्धावस्था की आवश्यकताएँ सरलता से पूरी हो जाएं। यदि किसी कारण परिवार और समाज का सहारा न मिले तो भी उन्हें पैसों की कमी नहीं खलती।

(ख) जिनके पास उनकी आवश्यकता से अधिक धन-संपत्ति है। वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। उनके बच्चे गाँव-घर छोड़कर महत्त्वाकाँक्षाओं की पूर्ति हेतु दूसरे शहरों में या विदेशों में जा बसते हैं। वृद्ध माता-पिता अपार संपत्ति के साथ अकेले ही बीमारी व अन्य परिस्थितियों से जूझते रहते हैं। एक ओर तो उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता वहीं अन्य चापलूस स्वार्थी व्यक्ति उनकी धन-संपत्ति को लूटने के चक्कर में रहते हैं। कई बार तो उनकी हत्या तक कर देते हैं।

(ग) जिनके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए कोई आर्थिक साधन नहीं होता। जिन्होंने सारा जीवन असंयम में बिताया, धन का दुरुपयोग किया और समय रहते भविष्य की चिंता नहीं की, वे बुढ़ापे में इसी प्रकार कष्ट पाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनके बच्चे जमीन-जायदाद-व्यापार आदि पर स्वयं कब्जा कर लेते हैं और माता पिता को भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। आज भोगवादी संस्कृति से प्रभावित अनेक व्यक्ति इस प्रकार का आचरण करने लगे हैं।

वृद्ध व्यक्तियों को एवं उनकी समस्याओं को समझने के लिए इस प्रकार का मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण हमारे लिए अत्यंत सहायक होगा।

वृद्ध जन एवं उनकी समस्याएँ

मनुष्य के जीवन क्रम में दो अवस्थाएँ ऐसी आती हैं जब वह असमर्थ, अशक्त एवं असहाय होता है। पहली अवस्था जन्म के समय से उसके शैशव काल की होती है। इस अवधि में यदि उसे पर्याप्त सहारा न मिले तो जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है अथवा अनेकानेक रोगाणु शरीर को अपना घर बना सकते हैं। इस समय उसकी बुद्धि एवं विवेक विकसित नहीं होते, स्वतंत्र चिंतन संभव नहीं होता और किसी प्रकार का पुरुषार्थ भी वह नहीं कर सकता। लगभग यही स्थिति वृद्धावस्था में भी होती है जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और शरीर जर्जर होने लगता है। वर्तमान समय में सामान्यत: ६० वर्ष की आयु से वृद्धावस्था एवं उससे संबन्धित समस्याएँ प्रारंभ हो जाती हैं।

जो व्यक्ति बचपन से ही उचित संस्कारित वातावरण में पले-बढ़े हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम के आदर्श मानदंडों का यथोचित पालन किया है और जिन्होंने अपने जीवन को दुर्गुणों एवं दुर्व्यसनों से यथासंभव बचा कर रखा है, वे वृद्धावस्था में भी

आनंद से रहते हैं। उनकी मानसिक सजगता एवं सक्रियता बनी रहती है तथा शारीरिक एवं आर्थिक समस्याओं का भी उन पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता, परंतु अधिकाँश व्यक्तियों की जीवनचर्या इस प्रकार की नहीं होती।

मानव जीवन के कुछ मूल तत्त्व हैं जिनकी हम सभी अनदेखी करते रहते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि मनुष्य योनि में हमारा जन्म क्यों और कैसे हुआ है। 'बड़े भाग मानुष तन पावा' - कहते तो हैं पर अपने जीवन को दुर्गुणों एवं दुर्व्यसनों के दलदल में स्वयं ही फँसा कर नष्ट करते रहते हैं। हमारे जीवन में जो भी भली-बुरी परिस्थितियाँ होती हैं वे सब हमारे कर्मों का ही फल हैं। वे कर्म चाहे इसी जीवन के हों या किसी पूर्व जीवन के। शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि प्रारब्ध के अनुसार ही हमारा पुनर्जन्म होता है तथा जाति, आयु एवं भोग का निर्धारण होता है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

-पातञ्जल योग दर्शन (२/१३)

यहाँ जाति से तात्पर्य है कि किस योनि में जन्म होना है तथा उस योनि में कितनी आयु रहेगी और कितने कष्ट या सुख भोगने होंगे। पूर्व जन्मों में हमने जैसे कर्म किये थे, उनके अनुसार हमारा जो प्रारब्ध बना उसी के फलस्वरूप मनुष्य योनि में हमारा जन्म हुआ है। उसी के अनुसार वर्तमान जीवन में हम सुख दुख भोग रहे हैं और उसी के अनुसार हमारे इस मानव शरीर की आयु भी निश्चित है।

यदि हम सदैव इस बात को ध्यान में रखें कि जीवन में जो भी अच्छी-बुरी परिस्थितियाँ हमारे सामने आती हैं वे सब हमारे स्वयं के कर्मों का ही फल हैं, तो हम कभी भी कठिनाइयों से विचलित नहीं होंगे और हँसते हुए उनका सामना कर सकेंगे। इसे तो हम सभी जानते हैं कि मृत्यु का क्षण पूर्व निर्धारित है। हमारी आयु निश्चित है। उसे न कोई घटा सकता है और न बढ़ा सकता

है। पर एक बात तो हमारे अपने हाथ में है कि हम चाहें तो संयमित जीवनचर्या का पालन करें और उचित आचार, विचार, आहार, विहार का ध्यान रखें जिससे शारीरिक रूप से अंतकाल तक स्वस्थ बने रहें। अपने जीवन में सेवा, त्याग, परोपकार, कर्त्तव्यपरायणता, सहनशीलता, सज्जनता, ईमानदारी, आत्मविश्वास जैसे नैतिक मूल्यों का विकास करते हुए अपने मानव जीवन को सार्थक करें तथा परिवार एवं समाज को अपने सद्गुणों की सुगंध से सुवासित करें। इसके विपरीत हम चाहें तो अपने जीवन को लोभ, मोह, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, वासना, तृष्णा, लिप्सा, लोलुपता आदि में उलझाकर स्वयं अपने लिए नित नई नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। एक बोझ जैसा बनाकर कुढ़ते-खींझते हुए मृत्यु के भय से दीन, दुखी एवं हताश जीवन व्यतीत करने हेतु स्वयं को विवश कर सकते हैं। हम स्वयं ही तय करें कि हम किस राह पर चल रहे हैं।

महाभारत युद्ध में घायल होकर भीष्म पितामह बाणों की शैय्या पर पड़े अपने अंतकाल की प्रतीक्षा कर रहे थे। कृष्ण वहाँ उनको देखने के लिए पहुँचे। भीष्म ने उनसे पूछा- 'इस जन्म में तो मैंने कोई पाप नहीं किया है फिर इस प्रकार बाणों से मेरा सारा शरीर क्यों छिदा हुआ है ? यह कष्ट मुझे क्यों मिल रहा है ?'

कृष्ण ने कहा- 'यह तुम्हारे पूर्व जन्म के पापकर्म का फल है। पिछले जन्मों का हाल तो तुम जानते नहीं और बिना साक्ष्य के तुम मानोगे भी नहीं। इसलिए तुम्हें मैं कुछ समय को दिव्य दृष्टि प्रदान कर रहा हूँ। तुम स्वयं अपने पिछले जन्मों का हाल देख लो।'

दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर भीष्म अपने पिछले जन्मों का विवरण देखने लगे। उन्होंने देखा कि कई जन्म पूर्व वे एक राजा के यहाँ महावत थे और हाथियों की देखभाल करते थे। एक बार उन्होंने एक गिरगिट पर अपना अंकुश फेंककर मार दिया। अंकुश की नोक उस गिरगिट के शरीर में घुस गई। उन्होंने

अंकुश उठा लिया। नोक से बिंधा हुआ गिरगिट तड़प रहा था। अंकुश को झटक कर गिरगिट को उन्होंने दूर फेंक दिया। पास ही नागफनी का पेड़ था जिसके चौड़े पत्तों पर असंख्य काँटे थे। वह गिरगिट उन्हीं पर गिरा और उसका सारा शरीर उन काँटों से बिंध गया। उसी हालत में कई दिनों तक वह तड़पता रहा और अंत में मर गया।

अब कृष्ण ने भीष्म को समझाया 'तुमने उस जन्म में अकारण ही उस गिरगिट को अंकुश से छेदा था और नागफनी के काँटों पर फेंक दिया था। उस पापकर्म का फल अब इतने जन्मों के बाद तुम्हें इस रूप में मिल रहा है। कर्म कभी भी निष्फल नहीं होते। देर-सबेर उनका फल सभी को भोगना पड़ता है।'

इसी प्रकार हमारे जीवन में जो भी कष्ट-कठिनाइयाँ आती हैं, वे सब हमारे अपने कर्मों का ही फल हैं। उन्हीं के अनुरूप परिस्थितियाँ बन जाती हैं और संगी-साथी व संबन्धी मिल जाते हैं। हमारे कर्मों के अनुसार हमारा जो प्रारब्ध बनता है वही समय आने पर फलित होता है। भीष्म के समान हमें दिव्य दृष्टि तो प्राप्त नहीं है, जो अपने पिछले जन्मों का हाल जान सकें पर हम उस सबकी कल्पना तो जरूर कर ही सकते हैं। वर्तमान जीवन में जो भी कष्ट-कठिनाई या रोग हमें भुगतने पड़ रहे हैं, वे सब हमारे किसी न किसी पापकर्म के ही प्रतिफल हैं। हमें तो इसको अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि इस रूप में हमारे पाप नष्ट हो रहे हैं। हमारे खाते में जो भी पामकर्म हैं, वे यदि समाप्त हो जाएंगे तो आगे जीवन सुख व आनंद से परिपूर्ण होगा। भीष्म पितामह की भाँति पापमुक्त होकर हम भी स्वर्ग-सुख प्राप्त करेंगे।

मानव जीवन तो पुरुषार्थ एवं प्रायश्चित के लिए मिला है। अन्य किसी भी योनि में यह संभव नहीं है। पुरुषार्थ के द्वारा हम सदैव सत्कर्म करें, सद्विचारों एवं सद्गुणों का प्रचार-प्रसार करें तथा समाज में सर्वत्र सत्प्रवृत्तियों का विकास करें। किसी भी

जन्म में हमने किसी भी जीव के प्रति किसी भी प्रकार का पाप किया हो, उसके प्रायश्चित स्वरूप इस जीवन में सभी जीवों के प्रति दया का भाव रखें और हर प्रकार से उनकी सेवा करें। अपने अनुभवों से सबका मार्गदर्शन करें। अपनी प्रतिभा-क्षमता का लाभ सभी को दें।

जो भी व्यक्ति अपने जीवन को इस प्रकार प्रायश्चित एवं पुरुषार्थ के मार्ग पर चलाते हैं, वृद्धावस्था में उनके लिए किसी भी प्रकार की समस्या नहीं आती। यह तो परमात्मा की कृपा है कि उसने दीर्घायु प्रदान की है। यह तो एक अवसर मिला है समाज में अपने सत्कर्मों की सुगंध फैलाने का। वृद्धावस्था तो जीवन का नवनीत है। इसे अभिशाप समझना तो निरी मूर्खता ही है। वृद्धावस्था की तैयारी तो सभी को बचपन से ही प्रारंभ कर देनी चाहिए। यही आदर्श जीवनचर्या है। पर कितने लोग हैं जो ऐसा कर पाते हैं। अभी भी समय है। यदि हम समझदारी का मार्ग अपनाएँ तो अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है। जो समय बीत गया सो बीत गया। अभी भी जीवन के न जाने कितने वर्ष बाकी हैं। हम यदि अब भी अपने कर्म और चिंतन को सही दिशा दे सकें तो शेष जीवन सुख और संतोष से व्यतीत कर सकते हैं। अपने संचित प्रारब्ध को नष्ट करके समाप्त करना तो सभी के लिए अत्यंत आवश्यक है। अपनी शेष आयु का सदुपयोग इसी प्रायश्चित एवं पुरुषार्थ में करना चाहिए। वृद्ध व्यक्तियों को तो बहुत गंभीरता से इस पर विचार करना ही होगा। इसी में उनका कल्याण है।

वर्तमान समय में वृद्धजनों को जिन समस्याओं से जूझना पड़ रहा है, उन पर हम अब कुछ विचार करें और उनके निराकरण का मार्ग तलाशें। ये समस्याएँ कुछ इस प्रकार की हैं-

१. शारीरिक रोग

मानव शरीर भी एक मशीन के समान है। समय के साथ इसके पुरजे भी घिसते-टूटते रहते हैं। खान-पान और आचार-

विचार के असंयम से यह प्रक्रिया और अधिक तीव्र भी होती है और जटिल भी। शरीर में अनेक रोग लग जाते हैं और वह जर्जर भी होने लगता है। कभी-कभी दुर्घटना या अन्य किसी कारण से मनुष्य विकलांग हो जाता है। चलने-फिरने, उठने-बैठने में भी समर्थ नहीं रहता। ऐसे में उसकी देखभाल एवं दवा, भोजन की व्यवस्था के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है। भारतीय संस्कृति में सामान्य रूप से परिवार के अन्य सदस्य यह दायित्व भलीभाँति निभा लेते हैं। माता-पिता एवं परिवार के अन्य वृद्धजनों की सेवा-सुश्रुषा करना सभी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते रहे हैं। कुछ तथाकथित प्रगतिशील परिवार अवश्य इसके अपवाद हैं।

जिन परिवारों में पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति का प्रभाव है, वहाँ युवा वर्ग तो केवल पैसे को ही भगवान् समझता है। चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार, अनाचार जैसे भी संभव हो वह अधिक से अधिक धन कमाने के चक्कर में हर प्रकार के अनैतिक कार्य भी कर रहा है। भौतिकता की अंधी दौड़ में व्यस्त लोग इस प्रकार बूढ़े-बीमार व्यक्तियों की सेवा को समय की बर्बादी समझते हैं।

२. एकाकीपन

वृद्धजनों के समक्ष एकाकीपन की समस्या अत्यंत कष्टदायी होती है। परिवार में युवावर्ग को अपने काम धंधों से समय ही नहीं मिलता। थके-हारे घर आते हैं तो अपने बच्चों में और टी.वी. के मनोरंजन में व्यस्त हो जाते हैं। बड़े-बूढ़ों के पास कुछ समय बैठना भी उचित नहीं समझते। वृद्ध महिलाएँ तो फिर भी किसी प्रकार अपने घर-परिवार में खप जाती हैं। पहले भी घर-गृहस्थी के कार्यों में लगी रहती थीं, सो अब भी थोड़ा-बहुत सहायता रूप में कुछ न कुछ करती रहती हैं। परंतु पुरुषों का तालमेल कठिनाई से ही हो पाता है। नौकरी से रिटायर हो चुके, व्यापार-खेती आदि का कार्य कर नहीं सकते, घर के छोटे-मोटे कार्यों में

हाथ बँटाना उनकी शान के खिलाफ होता है। अपने अनुभव का अहंकार भी होता है अतः वे हर बात में दूसरों को अपनी सलाह देने को उतावले रहते हैं। पुरानी निरर्थक बातों का बार-बार बखान करना चाहते हैं। इसी से परिवार के व्यक्ति उनके सामने आने से भी कतराते हैं।

खाली दिमाग शैतान का घर होता है। एकाकीपन से ग्रस्त व्यक्ति इधर-उधर की बेकार बातें सोचता है और बेसिर-पैर की योजनाएँ बनाता रहता है। इस प्रकार वह अपने लिए और अधिक समस्याएँ पैदा कर लेता है। उसकी खीज़, चिड़चिड़ापन बढ़ जाता है तथा द्वेष-ईर्ष्या की भावना बलवती होती जाती है। वह पुरानी यादों के खंडहरों में ही भटकता रहता है और वर्तमान की सुखद संभावनाओं की ओर ध्यान ही नहीं देता।

३. अपेक्षा एवं उपेक्षा का द्वन्द्व

बच्चों के जन्म से ही माता-पिता यह सपना देखने लगते हैं कि बड़े होकर वे उनके बुढ़ापे का सहारा बनेंगे और उनकी हर इच्छा पूरी करेंगे। परंतु बच्चे जब बड़े होते हैं तो वर्तमान सामाजिक परिवेश में इतना उलझ जाते हैं कि चाहते हुए भी वे माता-पिता की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाते। अपनी नौकरी, व्यवसाय आदि के चक्कर में माँ-बाप की इच्छाओं, आकाँक्षाओं, कामनाओं की पूर्ति किस प्रकार करें, इसे वे समझ ही नहीं पाते। माँ-बाप समझते हैं कि बच्चे जानबूझ कर उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। वे बच्चों की समस्याओं और मजबूरियों पर ध्यान ही नहीं देते तथा कभी-कभी ऐसी बातों पर अड़ जाते हैं, जिनकी पूर्ति वर्तमान समय में संभव ही नहीं होती। अपेक्षा एवं उपेक्षा का यह द्वन्द्व वृद्धजनों को बहुत मानसिक क्लेश देता है। वे हर समय अपने को अपमानित महसूस करते हुए निराशा के सागर में डूबे रहते हैं।

४. प्रताड़ना

कुछ वृद्धजन इतने अभागे होते हैं कि उनके बच्चे उन्हें दूध में पड़ी मक्खी के समान समझते हैं। उनके व्यवसाय, खेती आदि पर स्वयं कब्जा जमाकर उन्हें घर से बेघर करने में लगे रहते हैं। उनके खाने-पीने की व्यवस्था भी नहीं करते और सदैव यही चाहते हैं कि वे घर छोड़कर कहीं भी चले जाएं। पुत्र एवं परिवार के मोह से ग्रस्त वे वृद्धजन अपमानित एवं उपेक्षित जीवन जीने को विवश होते हैं अथवा घर छोड़कर कहीं अन्यत्र भिखारियों के समान दिन काटते हैं। जिन परिवारों में अंधाधुंध कमाई और पैसों के फूहड़ प्रदर्शन की परंपरा पड़ जाती है वहाँ वृद्धजनों को अधिकतर इसी प्रकार प्रताड़ित एवं अपमानित किया जाता है। तथाकथित प्रगतिशील सामाजिक परिवेश में बूढ़े दीनहीन व्यक्ति अवाँछनीय प्रतीत होते हैं। रेशम में टाट का पैबंद जैसे लगते हैं। घर के किसी निर्जन कोने में उन्हें निर्वासित कर दिया जाता है या फिर दूर किसी धार्मिक स्थल या वृद्धाश्रम में छोड़ दिया जाता है। तीर्थों, मंदिरों तथा अन्य धार्मिक स्थानों पर इस प्रकार के व्यक्ति प्रायः रोते-खींजते मिल जाते हैं।

ऐसी घटनाओं की यदि निष्पक्ष समीक्षा की जाए तो पता चलता है कि वृद्धजनों ने अपने बच्चों को भलीभाँति संस्कारित नहीं किया। बचपन में अधिक लाड़-प्यार के कारण या स्वयं अत्यधिक व्यस्तता के चलते बच्चों का सही मानसिक विकास करने का उनके पास समय ही नहीं था। परिणामस्वरूप समाज की दूषित विचारधारा में फँस कर वे उच्छृंखल एवं अमर्यादित आचरण के आदी बन गए तथा अनेक दुर्गुणों एवं दुर्व्यसनों के शिकार हो गए। ऐसे में यदि उनका जीवन साथी भी संस्कारहीन मिल गया, तब तो करेला और नीम चढ़ा की उक्ति ही साकार होती है। बहू तो वृद्ध सास-ससुर की उपेक्षा-अवहेलना में चार हाथ आगे ही रहती है। पति की अनुपस्थिति में वह उन्हें खुलेआम अपमानित करती है तथा पति के

आने पर उल्टी-सीधी बातों से उसके कान भरती है। परिवार मोह में फँसे अधिकांश वृद्धजनों को इस प्रकार की दुखदायी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। वे खुलकर किसी से कुछ कह भी नहीं पाते और अंदर ही अंदर कुढ़ते रहते हैं।

समस्या का समाधान कैसे हो

वृद्धावस्था में इस प्रकार की समस्याओं से न जूझना पड़े और अंत समय तक जीवन सुख व आनंद से परिपूर्ण रहे इसके लिए सबसे पहला दायित्व स्वयं वृद्धजनों का ही है। अधिकांश मामलों में अपनी दुर्दशा के लिए वे स्वयं ही उत्तरदायी होते हैं। इसके बाद परिवार एवं युवा वर्ग का दायित्व आता है और फिर समाज का।

वृद्धजन क्या करें ?

जवानी में बुढ़ापे की तैयारी

वृद्धावस्था की तैयारी तो बचपन से ही करनी चाहिए, जिससे किसी प्रकार की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक समस्या का सामना ही न करना पड़े। परम पूज्य गुरुदेव के शब्दों में बुढ़ापे का शेष जीवन शांतिपूर्ण आत्मचिंतन तथा भगवान् के भजन करने के लिए होता है, धक्के खाने के लिए नहीं। यही वह मूल्यवान समय होता है, जब मनुष्य अपने परलोक प्रासाद की नींव रखता है, किंतु यह संभव तभी हो सकता है, जब मनुष्य पहले से ही इसकी तैयारी करके अंतिम चरण में प्रवेश करे, जवानी में अथक परिश्रम करके अपने कर्त्तव्यों को पूरी तरह से पूरा करे। संतानों को इस योग्य बनाए कि वे उसका दायित्व ठीक से सँभाल सकें। अपने लिए भी स्थायी परिस्थितियों का निर्माण करें जो आगे चलकर उसकी सच्ची सहयोगी बन सकें। संयम, नियम तथा कठोर व्रतपालन द्वारा इतनी शक्ति, इतना तप तेज संचय करें जो अंतिम क्षण तक उसे अशांत न होने दे।

बुढ़ापा जीवन की अनिवार्य शर्त है, एक दिन सबको ही बूढ़ा होना होता है। जीवन का वह समय ऐसा होता है, जिसमें संचय का अवसर नहीं होता केवल व्यय ही करना होता है। इस व्यय के लिए आवश्यक संचय जवानी में ही किया जा सकता है। जवानी को अस्त-व्यस्त बिता डालने वालों को वृद्धावस्था में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जवानी के ज्वार में बुढ़ापे का भाटा न देखने वाले अदूरदर्शी ही होते हैं, उनको अपने इस दृष्टि-दोष का फल बुढ़ापे में भोगना पड़ता है। जवानी के जीवंत दिन जिन कष्टों को सहन कर सकते हैं, बुढ़ापा नहीं कर सकता। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह जवानी में अपने को इतना अवश्य कस ले कि आगे चलकर बुढ़ापे का बोझ आसानी से उठा सके।

ऋषि परंपरा से आश्रम जीवन जीने वाले बहुत कम धोखा खाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास विभाग के अनुसार जीवन क्रम कदाचित ही असफल होता है। वह आजीवन अपनी संचित शक्ति के आधार पर परिवार समाज तथा राष्ट्र के लिए किसी न किसी प्रकार उपयोगी बना ही रहेगा। जिन्हें अपना बुढ़ापा समस्या नहीं बनाना हो, वह जवानी में ही बुढ़ापे की तैयारी करता हुआ बुढ़ापे तक पहुँचे।

बचपन और जवानी के दिनों में यदि कोई चूक हो गई है तो भी निराश-हताश होने की जरूरत नहीं है। अभी भी समय है और दृढ़ निश्चय से विपरीत परिस्थितियों को भी उलट कर सीधा किया जा सकता है।

१. सर्वप्रथम अपने जीवन की समीक्षा करें

शांत चित से अपने क्रियाकलापों पर दृष्टि डालें और एक निष्पक्ष न्यायाधीश की भाँति यह देखें कि कहाँ क्या गलती हुई है। दूसरों की गल्तियों पर ध्यान न दें। जिसको जो करना था वह तो कर ही चुका और अब भी कर रहा है। उसे यदि सुधरना होगा तो वह

स्वयं ही सुधरेगा। आप तो केवल अपने को सुधारने का प्रयास कीजिए। **'अपना सुधार संसार की सबसे बड़ी सेवा है'** इस उक्ति को सदैव ध्यान में रखिए और अपनी गल्तियों को सुधारने का यथासंभव प्रयास कीजिये।

आत्मसमीक्षा और आत्मशोधन मानव जीवन की मूल आवश्यकता है। इसी योनि में यह संभव भी है। अन्य कोई प्राणी ऐसा कर ही नहीं सकता। यही अध्यात्म का मुख्य उद्देश्य है। प्रत्येक व्यक्ति को सतत इस प्रयास में लगे रहना चाहिए। प्रतिदिन सोने से पहले कुछ समय अपने दिन भर के कार्यों की समीक्षा करें और देखें कि हमने मन, वचन या कर्म से कोई अशुभ-अनैतिक कार्य तो नहीं किया है। पुनः ऐसा न हो, इसका संकल्प लें और सच्चे मन से उसके पालन का प्रयास करें।

२. अपनी आवश्यकताओं को कम करें और परिस्थितियों से तालमेल बिठाएँ

वृद्धावस्था में तो वैसे ही भोजन-वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ बहुत कम हो जाती है। उन्हें और अधिक युक्ति संगत बनाने का प्रयास करें। सबसे अधिक आवश्यक है परिस्थितियों से तालमेल। आपके परिवार में, पड़ोस में जो भी अच्छा-बुरा वातावरण है उसी में प्रसन्न रहने की आदत डालें। जो भी है, उसे हरिइच्छा समझ कर हर हाल में मस्त रहें। संतुष्टि का यह अहसास आपको सदैव तनाव मुक्त रखेगा। कमल को तो कीचड़ में ही रहना पड़ता है, फिर दुखी होने से क्या फायदा।

३. वानप्रस्थ जीवन शैली अपनाएं

हमारी ऋषि परंपरा के अनुसार तो पचास वर्ष की आयु के बाद वानप्रस्थ अपनाना होता था। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि घर परिवार को छोड़ कर वन में रहने लगें। वानप्रस्थ का वास्तविक अर्थ है कि घर परिवार का अनावश्यक मोह छोड़ दें और समाज की सेवा में अपनी प्रतिभा एवं क्षमता को नियोजित करें। परिवारिक

दायित्वों एवं समस्याओं से अपने को दूर रखने का प्रयास करें। बच्चे बड़े हो गए हैं, उन्हें स्वयं ही यह सब करने दें। यदि वे चाहें तभी अपनी सलाह एवं सहयोग दें। इससे वे स्वयं अपनी जिम्मेदारी समझेंगे और आपका उचित सम्मान भी बना रहेगा। ज्ञान-विज्ञान की जिस तीव्रता से प्रगति हो रही है, उससे वृद्धजन अपना तालमेल बैठाने में सक्षम नहीं होते जबकि युवावर्ग नित नई बातें सीखते रहते हैं। ऐसे में वृद्धजनों की पुरातन विचारधारा पर आधारित सलाह प्राय: व्यावहारिक भी नहीं होती। इसलिए बीच में न पड़ना ही ठीक रहता है।

जहाँ तक संभव हो, परिवार से केवल भोजन-शयन तक ही संबंध रखना चाहिए। अधिकांश समय समाज सेवा को समर्पित कर दें। आपके पड़ोस में, मोहल्ले में, गाँव और नगर में अनेक ऐसे व्यक्ति होंगे जिनकी सेवा-सहायता की जा सकती है। पास-पड़ोस के अन्य व्यक्तियों को एकत्र करके समाज में सद्विचारों के प्रचार-प्रसार का कार्य हो सकता है। दुर्गुणों एवं दुर्व्यसनों से लोगों को छुड़ाने का प्रयास कर सकते हैं। सेवा कार्यों की न तो कोई कमी है और न ही कोई सीमा। स्थानीय समस्याओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप उचित व्यवस्था बन सकती है। इसमें कोई विशेष खर्च भी नहीं होता। देखा-देखी समाज के अन्य व्यक्ति भी आगे आ जाते हैं। इस प्रकार समाज में प्रतिष्ठा भी बढ़ती है, अपनी प्रतिभा-क्षमता का सदुपयोग भी होता है और मानव धर्म का भी पालन होता है।

मानव धर्म का मूल आधार है 'सर्वे भवन्तु सुखिन:'। हम जो भी कार्य करें वह ऐसा हो कि सभी के लाभ का हो। किसी का भी अहित न हो। समाज में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि के भेद को छोड़कर जो भी दीन, दुखी दिखाई दे, उसकी सेवा करने में नि:स्वार्थ भाव से स्वयं को समर्पित कर दें। सबकी भलाई का ही प्रयास करें, भले ही इसमें अपना कुछ अहित ही क्यों न होता हो।

अपनी आवश्यकताओं को कम से कम रखते हुए केवल अल्प साधनों में ही निर्वाह करें तथा दूसरों के हित के लिए स्वयं अपना अधिकार भी छोड़ने को तत्पर रहें। यही सच्चा वानप्रस्थ है।

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने भी कहा है 'वानप्रस्थ का मूल प्रयोजन अपनी आत्मीयता एवं ममता को छोटे से परिवार तक सीमित न रखकर, विश्व मानव तक विकसित एवं विस्तृत कर देना है। आत्मोन्नति इसी को कहते हैं। पहले जितने छोटे दायरे (परिवार) में अपनेपन का भाव सीमित था, यदि वह बढ़ता है, विस्तृत होता है, अनेक परिवार अपने ही परिवार दीखते हैं और अनेक व्यक्ति अपने ही कुटुंबी लगते हैं तो समझना चाहिए कि आत्मा की, उसके दृष्टिकोण एवं स्वभाव की वृद्धि हुई है। यही प्रगति आत्मा को परमात्मा एवं नर को नारायण बनाती है।'

४. आध्यात्मिकता अपनाएँ

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिकता का पालन करना चाहिए। यह मानव जीवन की मूल आवश्यकता है। आज तो जिसे देखो वही धन, पद, प्रशंसा एवं सम्मान का भूखा है और इसके लिए कुछ भी करने को लालायित रहता है। उसके पास इतना समय ही नहीं है कि वह जीवन की मूल आवश्यकता अध्यात्म को जानने-समझने का प्रयास भी करे। वृद्धावस्था में तो सुख-शांति के लिए यह अत्यंत आवश्यक है।

आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है कि मनुष्य अंतर्मुखी होकर चिंतन, मनन, ध्यान एवं साधना में लगे। इस बात का सदैव ध्यान रखे कि उसे मानव योनि में जन्म क्यों मिला है? वह कौन है? उसकी आत्मा और परमात्मा का क्या संबंध है? उसे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उसके कर्मों का लेखा-जोखा रखने वाला परमात्मा सदैव साक्षी रूप में उसके साथ है। उन कर्मों का फल उसे ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार चिंतन करते हुए मानव धर्म का पालन करना ही आध्यात्मिकता है। जो व्यक्ति भी सच्ची

लगन, आस्था और विश्वास से अपने जीवन के स्रोत और चरम लक्ष्य को जानने, समझने और पाने का प्रयास करते हैं, उनको सुख-शांति एवं आनंद की प्राप्ति अवश्य होती है। परमात्मा से ऐसा अनन्य संबंध रखने वाला सदैव लाभ में ही रहता है। पूर्ण निष्काम भाव से भगवान् की उपासना करने पर उनके प्रति हमारा विश्वास दृढ़ होता है और हमारे अंत:करण में अलौकिक शांति की अजस्त्र धारा प्रवाहित होने लगती है। शांत चित्त में ज्ञान के साथ-साथ विवेक भी बढ़ता है। विवेक जाग्रत होने पर वैराग्य की भावना प्रबल होती है, संसार की निस्सारता का भान होता है और माया-मोह से मन विरत होने लगता है। ऐसी दशा में हमारा चिंतन और आचरण स्वयमेव ही संयमित और मर्यादित हो जाता है तथा अनेकानेक सुषुप्त शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं। जीवन का कायाकल्प हो जाने से ओजस, तेजस और वर्चस की आभा से हमारा व्यक्तित्व दमकने लगता है। आध्यात्मिक जीवन का यही लाभ है।

बचपन और जवानी में जो समय नष्ट हो गया, उसकी भरपाई कम से कम वृद्धावस्था में तो अवश्य की जानी चाहिए। स्वाध्याय एवं सत्संग को दैनिक कार्य के समान ही महत्त्व देना चाहिए। सत्साहित्य के अध्ययन तथा विद्वान, अनुभवी सन्त पुरुषों के साथ सत्संग द्वारा हमें अपने लोभ, मोह, धन-लिप्सा आदि से छुटकारा मिलता है। अपने जीवन और इस संसार की क्षणभंगुरता का बोध होता है। इसी से जीव सांसारिक बन्धनों से स्वयं को मुक्त कर सकता है।

अधिकांश व्यक्ति इस बात का दिखावा तो करते हैं कि वे बड़े धार्मिक और आध्यात्मिक हैं पर होता इसका उल्टा ही है। उनका मन कषाय-कल्मषों से, ईर्ष्या-द्वेष से, नाना प्रकार के कुविचारों से भरा रहता है। लिप्सा-लालसा बुढ़ापे में और अधिक बढ़ती जाती है। संसार से मुक्त होने के स्थान पर वह उस दलदल में और

गहरे फँसते जाते हैं। जब तक वे अपने विचार और चिंतन को बदलने का प्रयास नहीं करेंगे, सांसारिक माया जाल से छुटकारा संभव नहीं होगा। संसार के भौतिकवादी वातावरण में रहना तो होगा ही, स्वयं भौतिकवादी क्रियाएँ भी करनी होंगी, पर कम से कम हम अपने चिंतन व इच्छाओं को तो आध्यात्मिक रखें। हमारी क्रियाएं भले ही भौतिकवादी हों पर इच्छाएं तो अध्यात्मवादी ही रहें-यही मोक्ष का मार्ग है।

५. मौन रहने का अभ्यास करें

जहाँ तक संभव हो कम से कम बोला करें। अपने आँख-कान सदैव सतर्क रखें। चारों ओर जो भी हो रहा है उसे देखें-सुनें परंतु उस पर अपनी प्रतिक्रिया से यथासंभव बचते रहें। इस प्रकार आप अनेक झंझटों से दूर रहेंगे। मौन रहने से चित्त शांत रहता है और शारीरिक ऊर्जा भी व्यर्थ नष्ट नहीं होती। यदि हम गंभीरता से विचार करें तो पाएंगे कि दिन भर में हम जो भी बोलते हैं, उसका एक बड़ा भाग अकारण और निरर्थक ही होता है। इस प्रकार अपनी बात कहने की उतावली में हम बेकार ही अपनी शक्तियों को बर्बाद करते हैं तथा मानसिक उद्विग्नता को भी बढ़ाते हैं। मौन का अभ्यास हमें चिंतन मनन का सुअवसर भी प्रदान करता है।

६. स्वयं सहायता केंद्र

प्रत्येक गाँव, मोहल्ले या नगर में जो वृद्धजन हैं, वे स्वयं ही अपनी सहायता का बीड़ा उठा लें तो सभी के लिए सुखद परिस्थितियाँ बन सकती हैं। पूर्वकाल में तो चौपाल की व्यवस्था रहती थी। अब तो गाँवों में भी यह परंपरा समाप्त होती जा रही है। इसे पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। आस-पड़ोस के सभी वृद्धजन कोई स्थान तय कर सकते हैं। किसी मंदिर, धर्मशाला या पार्क में दो-चार घंटे सभी एकत्र होकर भजन-कीर्तन, स्वाध्याय-सत्संग में अपना समय लगाएं, तो उनके समय का सदुपयोग भी

होगा और आपसी समस्याओं का समाधान भी। जो वृद्धजन स्वस्थ एवं सक्षम हैं वे दूसरों की सहायता भी कर सकते हैं। अपने ज्ञान एवं अनुभव से एक दूसरे को लाभान्वित कर सकते हैं। इस प्रकार उन सभी को एकाकीपन से छुटकारा मिलेगा। निष्क्रियता के स्थान पर सक्रियता रहने से उनके जीवन में उमंग और उल्लास की वृद्धि होगी।

प्राय: लोग कहते हैं कि बूढ़ा तोता राम-राम कैसे कहेगा, अर्थात् बुढ़ापे में कुछ कर पाना अब संभव नहीं। यह मात्र उनका भ्रम ही है। तुलसीदास जी ने रामचरित मानस का लेखन कार्य ८० वर्ष की आयु में प्रारंभ किया था और १२० वर्ष की आयु में पूर्ण किया। ऐसे ही असंख्य उदाहरण हैं जब सच्ची लगन से प्रारंभ किया गया संकल्प वृद्धावस्था के अवरोधों को भी पार कर के सफल हो गया। आप प्रारंभ तो कीजिये।

ईश्वर केवल उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करने को तत्पर रहते हैं। स्वयं को सुधारने के लिए सतत प्रयासरत रहना अपनी सबसे बड़ी सहायता है। अपने मन पर कठोर नियंत्रण रखने का यत्न करें। उसे बेलगाम घोड़े की तरह दिशाहीन भटकने न दें। इस प्रकार हमारा मन हमारा सबसे अच्छा मित्र बन जाएगा और सच्चा मार्गदर्शक भी। विपरीत परिस्थितियाँ और विषमताएँ तो हमें चारों ओर से घेरे ही हुए हैं। उनके लिए रोते रहने से क्या लाभ। उनकी चिंता छोड़कर यदि हम संभावनाओं की खोज करने लग जाएं तो असंख्य मार्ग हमारे सामने खुल जाएंगे। इससे हमारा शारीरिक और मानसिक कायाकल्प भी संभव होगा। अनुभव एवं अभ्यास से हम अपने को सच्चा कर्मयोगी बनाने में सफल हो जाएंगे।

७. मृत्यु महोत्सव की तैयारी करें

यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य की आयु निश्चित है और मृत्यु की उस घड़ी को टाला नहीं जा सकता है। कोई भी

व्यक्ति अमर नहीं है। अमर तो केवल आत्मा है। शरीर नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार हम पुराने कपड़ों को छोड़कर नए वस्त्र धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी वर्तमान शरीर के नष्ट हो जाने पर नए शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। जन्म और मृत्यु तो स्थूल शरीर का ही होता है। इसके अंदर निवास करने वाले जीव का अस्तित्व तो पृथक् है। वह तो अपने कर्मों के संचित कोप के साथ नए शरीर में चला जाता है। जैसे भी उसके संस्कार हैं और जैसा भी उसका प्रारब्ध बनता है, उसी के अनुरूप उसे विभिन्न योनियों में कर्मफल भोगने हेतु जाना होता है। चौरासी लाख योनियों के इस चक्कर से छुटकारा पाना सरल नहीं है।

जीवन की इस निश्चित संभावना से आँख मूँद लेने का कोई लाभ नहीं है। अधिकांश व्यक्ति कहते हैं कि मरना तो एक दिन है ही, तब तक मौज-मस्ती कर लो। पर वे यह भूल जाते हैं कि मौज-मस्ती के ये कर्म एक ओर तो उनके स्वास्थ्य को बर्बाद करते हैं वहीं दूसरी ओर चिंतन व चरित्र को भ्रष्ट कर देते हैं। ये लोभ, मोह, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष आदि की भावनाओं में वृद्धि करते हुए उस मनुष्य को अनेकानेक पाप कर्मों में लिप्त कर देते हैं। फलस्वरूप उसका यह जीवन तो नरकतुल्य बन ही जाता है, भविष्य में भी उसे अनेक निम्न योनियों में दारुण कष्ट भोगने पड़ते हैं।

जब यह सब पता है तो फिर मृत्यु से भय कैसा ! हर समय उसके लिए रोना क्यों? वास्तव में हमें तो उसके स्वागत की तैयारी ही करनी चाहिए। जितनी भी जीवन की अवधि हमें मिली है, उसका उपयोग इस प्रकार करना चाहिए, जिससे हमारे संचित पापकर्म नष्ट हो जाएं एवं पुण्य कर्म बढ़ते जाएं। इस प्रकार वर्तमान जीवन भी आनंदमय होगा तथा अगला जन्म भी उत्कृष्ट योनि में सुखद परिस्थितियों में होगा। पुरुषार्थ एवं प्रायश्चित के द्वारा ही यह संभव है। मौज-मस्ती की वर्तमान

धारणा से हमारी कितनी हानि होती है, इसे हम यदि समझ सकें तो अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं। इसी में हमारी बुद्धिमानी है।

मृत्यु के स्वागत की तैयारी करते समय एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। गीता में भगवान ने कहा है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ८/६)

हे कुंती पुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अंतकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है। अब यह तो सामान्य सी बात है कि मनुष्य सदैव जिस प्रकार के विचारों में निमग्न रहेगा, अंतकाल में भी प्रायः उसी का स्मरण रहता है और तदनुसार ही उसका प्रारब्ध बनता है। उसके संचित कोष में तो अच्छे-बुरे हर प्रकार के कर्म संस्कारों का विशाल भंडार है जो कि जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित हो रहे हैं। उनके फल तो अभी प्रकट होने हैं। अब मृत्यु समय के भाव के अनुसार उसके प्रारब्ध का जो केंद्र बिंदु बनता है, वह उस संचित कोष से उसी प्रकार के अनेक संस्कारों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार एकत्रित संस्कारों का समूह ही प्रारब्ध कहलाता है। इसी के अनुसार जीवात्मा अनेक भोग योनियों में कर्मफल का भोग प्राप्त करता है।

यदि कोई मनुष्य सारा जीवन अपने बच्चों, परिवार, धन-संपत्ति आदि में उलझा रहता है, चोरी, डकैती, अनाचार, अत्याचार आदि की गतिविधियों में लिप्त रहता है, तो मृत्यु के समय भी उसमें इसी प्रकार के भाव रहेंगे। उसके प्राण बच्चों, जमीन, जायदाद आदि में अटके रहेंगे। उसी के आधार पर संचित कोष में से उसी प्रकार के संस्कार बाहर आएंगे और प्रारब्ध का निर्माण होगा। जीवन में अपने बच्चों व धन-सम्पत्ति आदि के लिए जो विश्वासघात

किया है, दूसरों को धोखा दिया है, शारीरिक व मानसिक कष्ट दिया है, हत्या की है, गबन या घपला किया है, उन सभी पाप कर्मों के संस्कार उभर कर प्रारब्ध बनाएंगे और उसको अनेकानेक निकृष्ट योनियों में उनका फल भोगना होगा। उसके संचित में जो पुण्यकर्म हैं वे तो दबे ही रह जाएंगे।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति बहुत ही पवित्र एवं सात्त्विक जीवन व्यतीत करता है, दया-सेवा, करुणा-प्रेम से धर्माचरण में रत रहता है, समाज और राष्ट्र की सेवा के संग सभी के साथ सज्जनोचित व्यवहार करता है, तो मृत्यु के समय भी उसके मन में ऐसे शुभ भाव ही बने रहेंगे। यह भाव उसके संचित के पवित्र संस्कारों को एकत्रित करके उसका प्रारब्ध बनाएंगे। फलस्वरूप उसे अगला जन्म और अधिक उत्कृष्ट मानव योनि में प्राप्त होगा। उसको पुनः यह सुअवसर प्राप्त होगा कि वह अपने संचित में बचे हुए जो भी पापकर्म हों, उन्हें अपने पुरुषार्थ एवं प्रायश्चित के माध्यम से नष्ट कर सके।

आप स्वयं ही विचार करें कि यदि किसी ने जीवन भर अनैतिक-अशुभ आचरण ही किया हो, तो क्या अंत समय में शुभ विचारों का होना संभव होगा? वहीं जिसने सदैव पवित्र जीवन जिया है, क्या मृत्यु समय उसके मन में कोई अशुभ विचार आ सकते हैं? ऐसी विपरीत बात तो लगभग असंभव ही है। अंत समय में हमारे शुभ विचार ही रहें, इसका अभ्यास भी जीवन के प्रारंभ से ही करना चाहिए। बचपन से ही इस प्रकार की आदत डाल ली जाए तो अंत तक यह विचारधारा बनी रहेगी तथा दिन-प्रतिदिन और अधिक पुष्ट भी होती जाएगी। पहले हमारे कर्म और विचार जैसे भी रहे हों, कम से कम अपने शेष जीवन में तो शुभ एवं पवित्र कर्म करने का अभ्यास डालें ही। अपने चिंतन और विचारों को आवश्यकतानुसार बदल कर सात्त्विक एवं पवित्र जीवन शैली अपनाएं। किसी ने ठीक कहा है-

मरो परंतु यों मरो कि याद जो करें सभी।
हुई न यों सुमृत्यु तो वृथा जिये वृथा मरे॥

और हमारे कवि हृदय प्रधानमंत्री माननीय अटल जी ने तो स्पष्ट कहा है-

'जब जन्म हुआ तो इतराते।
फिर मरण पर त्यौहार क्यों नहीं मनाते।।'

अवश्यंभावी मृत्यु के स्वागत में हम यदि ऐसा कर सकें तो अपने शेष जीवन को भी आनंदमय बना लेंगे और मृत्यु को भी महोत्सव का रूप दे सकेंगे। मृत्यु महोत्सव की तैयारी तो हमें सच्चे मन से करनी ही चाहिए, तभी हम मृत्यु को सुमृत्यु बना सकेंगे।

परिवार एवं युवावर्ग का दायित्व

भारतीय संस्कृति का केंद्र बिंदु है परिवार। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम का महत्त्व सर्वोपरि है। अन्य तीनों आश्रमों की सुरक्षा एवं व्यवस्था का दायित्व भी गृहस्थों पर ही होता है। वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। अपने-अपने कर्म संस्कारों के अनुसार ही उसे यह जीवन मिला है। यहाँ भी वह जैसे अच्छे-बुरे कार्य करेगा, उनका फल भी उसे ही भागेना होगा। अन्य कोई उसमें साझी नहीं हो सकता। परन्तु पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टि से कोई मनुष्य संसार में न तो अकेला होता है न अकेला रह ही सकता है। उसका जन्म ही माता-पिता के पुरुषार्थ से होता है। उसका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, भोजन-वस्त्र, घर-व्यापार सभी दूसरों पर आश्रित हैं। उनके सहयोग के बिना तो कुछ भी संभव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य उन सबका ऋणी होता है और यह उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने को ऋण-मुक्त करने का यथासंभव प्रयास करे।

मुख्य रूप से मनुष्य पर तीन ऋण लदे होते हैं-देव ऋण, पितृ ऋण और आचार्य ऋण। इनको भली प्रकार समझना और अपने को ऋणमुक्त करने का प्रयास करना प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है।

देव ऋण

परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से हमें यह मानव जीवन प्राप्त हुआ है। हम जीवन में उत्तरोत्तर प्रगति कर सकें, इसी उद्देश्य से भगवान ने हमारे चारों ओर अच्छी-बुरी परिस्थितियों का निर्माण किया है। पुरुषार्थ एवं प्रायश्चित के लिए अनेकानेक संभावनाओं के द्वार हमारे सामने खोल दिए हैं। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम सुषुप्तावस्था से जागें और संकल्पपूर्वक आगे बढ़ने का प्रयास करें। परमात्मा की अनंत कृपा के प्रति कृतार्थ भाव से, आस्तिकता एवं भक्ति से सदैव उसका स्मरण करें तथा उसके द्वारा निर्धारित मानव धर्म 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का पालन करें। पृथ्वी एवं पर्यावरण की सुरक्षा, पवित्रता और उत्कर्ष हेतु अपना सक्रिय योगदान दें। इसी प्रकार हम देव ऋण से मुक्त हो सकते हैं।

पितृ ऋण

माता-पिता की कृपा से ही हम इस मानव योनि में जन्म ले सके हैं। जन्म से पूर्व गर्भ में भी हमारा समुचित पालन उन्होंने किया तथा जन्म के बाद हमारी हर प्रकार से देखभाल की है। यदि हमारे लालन-पालन में तनिक भी उपेक्षा बरती होती तो संभवतः हमारा जीवित रहना भी संभव नहीं हो पाता। इस सब के लिए माँ-बाप ने क्या-क्या कष्ट सहे हैं, इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। हमारी शिक्षा-दीक्षा में, व्यापार-नौकरी में, चतुर्दिक प्रगति में उन्होंने अपनी समस्त प्रतिभा व क्षमता का समर्पण किया है। स्वयं अनेकानेक कष्ट सहते हुए भी हमारी सुख-सुविधा का सदैव ध्यान रखा है। उनके ऋण से मुक्त हो सकना तो इस जीवन में

संभव ही नहीं है। हम तो बस इतना ही कर सकते हैं कि यथासंभव उनका सम्मान करें। उनके प्रति सदैव प्रेम और आदर का भाव रखें। वृद्धावस्था में जब वे अशक्त एवं असहाय होने लगें तो विशेष रूप से श्रद्धा भाव के साथ तन-मन-धन से उनकी सेवा करें।

ऋषि ऋण

संसार में आज हम जो कुछ भी बन सके हैं और आगे भी जो प्रगति करेंगे, उस सब में समाज का सहयोग हमें पग-पग पर मिलता रहता है। ऋषियों-मनीषियों ने, समाज के मूर्धन्य व्यक्तियों ने हमारा पथ प्रदर्शन करने हेतु ज्ञान-विज्ञान के अगणित ग्रंथों की रचना की है जिनके स्वाध्याय एवं शोध से ही आज हम हर प्रकार की प्रगति कर पा रहे हैं। केवल गुरु एवं शिक्षक ही नहीं, वरन् समाज के प्रत्येक व्यक्ति से हम हर समय कुछ न कुछ सीखते हैं। सभी हमें किसी न किसी रूप में उपकृत करते रहते हैं। यही ऋषि ऋण है। समाज सेवा से, परमार्थ और सदाचार से ही इस उपकार का बदला चुकाया जा सकता है। हमें अपनी प्रतिभा एवं क्षमता का उपयोग सदैव इस प्रकार से करना चाहिए कि वह समाज में सभी के कल्याण का साधन बने। कभी भी किसी का अहित न हो। स्वयं कष्ट उठाकर भी सहर्ष समाज सेवा करते हुए ही हम इस ऋण से मुक्त हो सकते हैं।

इस प्रकार संसार में प्रत्येक व्यक्ति पर भगवान का, माता-पिता का और समाज का ऋण है, जिसे चुकाने को उसे हर समय तत्पर रहना चाहिए। परिवार में माँ-बाप एवं अन्य सभी वृद्ध व्यक्तियों की पूर्ण श्रद्धाभाव से समुचित देखभाल करना उसे अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझना चाहिए। इस सेवा के फलस्वरूप उनसे जो शुभाशीष प्राप्त होती है वह भगवान् के बड़े से बड़े वरदान से भी उच्च स्तर की होती है और हमारा हर प्रकार से कल्याण करती है।

वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति एवं भोगवादी विचारधारा के कुप्रभाव के ग्रसित समाज अपने उच्च विचारों से विमुख हो रहा

है। अपने स्वार्थ एवं अहंकार में डूबा हुआ मनुष्य अनेक दुर्व्यसनों के चक्रव्यूह में फँसता जा रहा है। ऐसे में संयुक्त परिवार की अवधारणा सर्वाधिक आहत हो रही है। संयुक्त परिवारों का विघटन ही वृद्धजनों की समस्या का मूल कारण है। आपसी आत्मीयता एवं पारिवारिकता का लोप हो जाने से व्यक्ति स्वकेंद्रित होता जा रहा है। वह केवल अपने स्वार्थ एवं सुख-साधन का ही ध्यान करता है। शेष सब कुछ उसके लिए बेमानी है, समय और पैसे का अपव्यय है। इसीलिए वृद्ध माँ-बाप को एक बोझ समझकर वह उपेक्षित और प्रताड़ित करता है। उनके कष्टों को दूर करने के स्थान पर और बढ़ाता ही है। पिछले ५०-६० वर्षों से यह स्थिति दिनोंदिन बिगड़ती ही जा रही है।

इधर कुछ वर्षों से लोगों में एक नयी सोच विकसित हुई है -'जेनरेशन गैप' या पीढ़ियों का अंतर। युवावर्ग वृद्धजनों को पुरातनपंथी और दकियानूसी कहकर उपेक्षित करता है और स्वयं को प्रगतिशील समझता है। इसके लिए बड़े जोर-शोर से जेनरेशन गैप की दुहाई दी जाती है, पर क्या वास्तव में ऐसा है ? पीढ़ियों के अंतर की बात तो छोड़ दें, समान आयु एवं समान स्तर के व्यक्तियों में भी अधिकतर मत-भिन्नता होती है। भाई-भाई के विचार आपस में नहीं मिलते। पति और पत्नी में भी तनातनी बनी रहती है। घनिष्ठ मित्र भी वैचारिक विरोधाभास हो जाने से शत्रु बन जाते हैं। यहाँ कौन सा पीढ़ियों का अंतर है ? अपने को अधिक बुद्धिमान समझना, अहंकारवश दूसरे की सही बात की भी अवहेलना करना और जबरदस्ती अपने विचारों को दूसरों पर थोपने की भावना से ही ऐसा होता है। अपनी इसी कुचेष्टा को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए ही लोग जेनरेशन गैप की आड़ लेते हैं। यथार्थ में तो यह एक भ्रामक कल्पना मात्र है।

जहाँ भी लोग एक दूसरे की बातों को गंभीरता से सुनते हैं, उनके विचारों को उचित सम्मान देते हैं और आवश्यकतानुसार

समझा-बुझा कर उचित संशोधन सुझाते हैं, वहाँ इस प्रकार की समस्या नहीं आती। अपने अहंकार का त्याग करें और एक दूसरे को समझने का प्रयास करें तो दोनों में उचित तालमेल बना रहता है। छोटे बच्चों में तो अहंकार होता ही नहीं और इसी से बड़े भी उनको अपना अहंकार नहीं दिखा पाते। इसलिए हम देखते हैं कि छोटे बच्चे अपने दादा-दादी, नाना-नानी आदि के साथ खूब खुलकर बात कर लेते हैं और बहुत प्रसन्न रहते हैं। आपसी अहं का टकराव ही वास्तव में जेनरेशन गैप है। इस अहं भाव से स्वयं को मुक्त करके वृद्धजनों को सम्मान देने का स्वभाव विकसित करें।

जब तक संयुक्त परिवारों की गरिमा विद्यमान थी, इस प्रकार की कोई समस्या भारतीय समाज में नहीं थी। परस्पर स्नेह एवं सहयोग से परिवार में वृद्ध एवं निर्बल व्यक्तियों को भी समान आदर मिलता था। एक ही छत के नीचे तीन-चार पीढ़ियाँ सुख व आनंद से रहती थीं और हर प्रकार के अभाव-कष्ट हँसते हुए सहन कर लेती थीं। एक दूसरे का सहयोग करने में हर व्यक्ति गर्व का अनुभव करता था और उसे भगवान की पूजा समझता था।

इस पारिवारिकता के महत्त्व को समझकर पुनर्स्थापित करने का दायित्व आज की युवा पीढ़ी का ही है। उन्हें ये समझना होगा कि परिवार से कट कर जो एकाकी एवं स्वार्थी जीवन बिता रहे हैं उसमें कुछ तात्कालिक लाभ भले ही दिखाई देता हो, पर वास्तव में उससे हानि अधिक होती है। आगे चलकर जब स्थिति उनके हाथ से बाहर निकल जाती है, तब केवल पछताना ही पड़ता है। हमारे ऋषियों ने विश्व बंधुत्व की कल्पना की थी। सारे संसार को एक परिवार और प्रत्येक जीव को उस परिवार का एक सदस्य माना था। परंतु आज भावनाओं के स्थान पर हर चीज को पैसों से तौलने की परंपरा विकसित हो गई है। हर वस्तु यहाँ तक कि स्वयं का चरित्र भी बिकाऊ है। राष्ट्र भक्ति, समाज की प्रगति,

परिवार की गरिमा सब कुछ पैसों के सामने नगण्य हैं। जहाँ विश्व को एक परिवार बनाने की परिकल्पना थी, वह एक बाजार बन गया है।

प्रारंभ स्वयं अपने से ही करना होता है। अपने घर में पारिवारिकता की भावना को विकसित करने का प्रयास करें। आपसी विश्वास एवं सहयोग को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करें। परिवार में वृद्ध माता-पिता को एवं अन्य निर्बल असहाय व्यक्तियों को यथोचित सम्मान एवं सहयोग दें। उनके साथ आत्मीय व्यवहार करें। इस प्रकार अपने घर में ही स्वर्ग का निर्माण करें।

आपके पड़ोस में, मोहल्ले में, गाँव मे जहाँ भी इस प्रकार के वृद्ध एवं निर्बल व्यक्ति हों, उनकी सहायता करें। कुछ समय निकाल कर उनसे हँस-बोल लें। उनसे सुख-दुख की बातें करें। जहाँ तक संभव हो सके उन्हें यह अनुभव कराएं कि आप उनको भी अपने परिवार का ही एक सदस्य समझते हैं।

अपने जैसे अन्य समर्थ व्यक्तियों के सहयोग से समाज में वृद्धजनों के कल्याण के कार्य प्रारंभ करें, जिससे उनके शारीरिक, आर्थिक एवं मानसिक कष्ट दूर हो सकें। आज अनेक समर्थ व्यक्ति अपनी नौकरी या व्यापार के संबन्ध में अपने घर से दूर दूसरे शहर में रहने को विवश हैं। वे चाहते हुए भी अपने घर पर रहकर वृद्ध माता-पिता की सेवा नहीं कर पाते। इसकी क्षतिपूर्ति में वे जहाँ भी रहते हैं, पास-पड़ोस के वृद्ध व्यक्तियों को अपने माता-पिता जैसा ही सम्मान एवं सहयोग देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं।

अपनी प्रतिभा एवं क्षमता को वृद्धजनों के कल्याण में अवश्य लगाएं तथा अपनी कमाई का कुछ अंश इस हेतु नियमित रूप से समर्पित करते रहें। इस प्रकार अपने बच्चों के समक्ष भी आप एक आदर्श प्रस्तुत करेंगें जो भविष्य में आप को लाभान्वित करेगा।

समाज का दायित्व

यदि वृद्धजन स्वयं ही अपने कल्याण की व्यवस्था प्रारंभ से बनाए रहें तथा युवावर्ग भी पारिवारिकता के उच्च आदर्शों का पालन करते हुए उनकी समुचित देखभाल करता रहे तो फिर समाज को कुछ करने की आवश्यकता ही न रहे। परंतु ऐसा होता नहीं है। अधिकांशतः न तो वृद्धजन अपने लिए उचित व्यवस्था बनाते हैं और न ही युवा वर्ग उच्च आदर्शों का पालन करता है। इसी से वृद्धजनों की समस्या बनी रहती है। ऐसे में समाज में जो भी जागरूक व्यक्ति हैं उन्हें आगे आना होगा और इस समस्या के निराकरण हेतु समाधान खोजना होगा।

समाज में अधिकांश व्यक्ति तो अज्ञानी होते हैं और स्वार्थी भी। वे प्रायः ऐसे उल्टे-सीधे काम करते हैं, जिनसे स्वयं की भी हानि कर लेते हैं। दूसरों का भला वे क्या कर सकेंगे। जो ज्ञानी हैं, समझदार हैं वे भी अधिकतर निष्क्रिय ही रहते हैं और कुछ पहल करने से भी हिचकते हैं। कुछ थोड़े से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जागरूक भी हैं, सक्रिय भी हैं और जिनमें कुछ करने की उमंग-उल्लास है, ललक है। ऐसे सेवाभावी सज्जनों को क्षेत्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वृद्धजनों की समस्याओं का समाधान खोजने में अपना अमूल्य योगदान करना चाहिए। इस संबंध में कुछ बिंदुओं पर विचार अवश्य कर सकते हैं।

१. लगभग सभी राज्य सरकारों द्वारा वृद्धजन कल्याण नीति के अंतर्गत अनेक योजनाएं चलाई जाती हैं। केंद्र सरकार का भी इसमें सहयोग रहता है। वृद्धावस्था पेंशन तथा विधवा पेंशन का प्रावधान हर राज्य में है। उनके निःशुल्क इलाज की व्यवस्था

सरकारी अस्पतालों में है। दुर्घटना बीमा, लड़कियों की शादी आदि में भी सरकारी सहयोग कुछ परिस्थितियों में मिल जाता है। इन सबके बारे में जानकारी एकत्रित करके वृद्धजनों की सहायता की जानी चाहिए। उन्हें पेंशन एवं अन्य सुविधाएं दिलवाने में सक्रिय सहयोग करना चाहिए।

२. अनेक सामाजिक संस्थाएं वृद्धजनों की सहायता करने को तत्पर रहती हैं। अपने क्षेत्र के लोगों को उनका लाभ मिल सके, इसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

३.अन्य सामाजिक संस्थाओं तथा उदार दानी महानुभावों को भी प्रेरित करना चाहिए कि वे वृद्धजनों के कल्याण हेतु अपनी प्रतिभा-क्षमता का योगदान अवश्य करें।

४. अपने क्षेत्र में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं जो अपने वृद्ध माता-पिता की उपेक्षा करते हों या उन्हें प्रताड़ित करते हों। ऐसे व्यक्तियों को समझा-बुझाकर इस पापकर्म से विमुख करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

५.स्थानीय स्तर पर वृद्धजनों के लिए स्वयं सहायता केंद्र स्थापित करने में सहयोग करना चाहिए। यह किसी पार्क, धार्मिक स्थल, मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि में बन सकते हैं जहाँ सभी वृद्ध कुछ समय के लिए एकत्रित होकर भजन-कीर्तन सत्संग में अपने समय का सदुपयोग कर सकें और एकाकीपन की समस्या से भी छुटकारा पा सकें। बच्चों की छुट्टी के बाद स्कूल के बरामदों का भी इस कार्य हेतु उपयोग किया जा सकता है।

६. स्वयं भी कुछ समय निकाल कर वृद्धजनों के साथ बिताएं और उन्हें यह अनुभव करायें कि वे भी समाज के एक उपयोगी अंग हैं। उनके ज्ञान और अनुभव का लाभ लें तथा उन्हें उचित सम्मान दें।

७. वृद्ध सेवा आश्रमों की स्थापना कराएं एवं पहले से स्थापित आश्रमों की व्यवस्था में उचित सहयोग दें। तन-मन-धन

से स्वयं भी इस कार्य में जुटें तथा औरों को भी प्रेरित करें। ऐसे आश्रमों में वृद्धजनों के निवास, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा आदि के साथ-साथ स्वाध्याय, सत्संग, भजन, पूजन आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

स्वस्थ रहें, व्यस्त रहें, मस्त रहें

छोटा हो या बड़ा, बच्चा हो या बूढ़ा, आदमी हो या औरत, प्रत्येक व्यक्ति की यही इच्छा होती है कि वह सदैव सुखी रहे, किसी भी प्रकार का कोई दुख या कष्ट उसे कभी न सताए। वह हर हाल में मौज-मस्ती में रहे, पर उस मस्ती का वास्तविक स्वरूप क्या होता है और क्या होना चाहिए इसे सामान्यत: वह समझ ही नहीं पाता। सुख की खोज में अधिकतर वह भौतिक साधनों की ओर ही भागता है। इससे उसे कुछ तात्कालिक शारीरिक सुख तो प्राप्त हो जाता है, पर साथ ही वह अनेक मानसिक उलझनों एवं आधि-व्याधि के दुष्चक्र में भी फँसता चला जाता है। समस्या का मूल कारण यही होता है कि वह केवल शारीरिक सुख एवं बाह्य आडंबरों को ही वास्तविक समझता है और तथाकथित मौज-मस्ती के गोरखधंधे में अपने को उलझाता रहता है।

सुख, मौज-मस्ती वास्तव में मनुष्य की एक आंतरिक स्थिति है। यह उसके शरीर से नहीं वरन् उसकी आत्मा से जुड़ी होती है। यह तभी संभव होता है जब वह मोह-ममता, लोभ-लालच, ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध आदि से अपने को मुक्त रखते हुए हर हाल में संतुष्ट रहने का स्वभाव बना लेता है। जीवन में अच्छा बुरा जो भी होता है उसे भगवान का प्रसाद समझता है। जो भी अच्छा है वह भगवान् की कृपा है और जो भी बुरा है वह उसकी इच्छा है। इसी विश्वास और श्रद्धा के साथ वह जीवन लक्ष्य की प्राप्ति हेतु नि:स्वार्थ भाव से पुरुषार्थ करता है।

हम भी यदि अपने जीवन में इसी प्रकार की स्थायी मस्ती और आनंद चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम सदैव स्वयं को व्यस्त रखें। संसार में हर व्यक्ति हर समय किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहता है। पर अधिकतर यह व्यस्तता स्वार्थ एवं ईर्ष्या पर ही टिकी होती है। इससे और चाहे जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, पर मन की शान्ति नसीब नहीं होती। यह तो तभी मिल सकेगी जब हम संयम एवं सात्त्विकता की भावना के साथ सर्वहितकारी रचनात्मक कार्यों में स्वयं को व्यस्त रखेंगे। इससे सर्वत्र प्रेम और सहकार की भावना का भी विकास होता है और विरोधी भी हमारे सहयोगी बन जाते हैं। देश काल की परिस्थितियों के अनुरूप जो भी आवश्यक हो, हमें सदैव उसी में स्वयं को व्यस्त रखना चाहिए।

हम मस्त भी रहें और व्यस्त भी रहें, यह तभी संभव है जब हम स्वस्थ भी रहें। पहला सुख निरोगी काया। इस शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने का दायित्व तो हमारा ही है। बचपन में भले ही माता-पिता एवं अभिभावकों का कुछ सहयोग हमें मिल जाए, पर शेष जीवन में तो हमें स्वयं ही अपने शरीर की उचित देखभाल करनी होती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ हमारी यह जिम्मेदारी और अधिक बढ़ जाती है। भगवान् ने विशेष पुरुषार्थ करने के लिए ही कृपापूर्वक हमें यह मानव देह प्रदान की है। परमात्मा के ही एक अंश हमारी आत्मा का यह निवास स्थान है, भगवान् का मंदिर है। इसे पवित्र एवं पुष्ट रखना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। वृद्धावस्था में तो इस ओर विशेष सजगता एवं सक्रियता की आवश्यकता होती है।

स्वास्थ्य का संबंध शरीर से भी है और मन से भी। हमें अपने शरीर और मन दोनों को ही स्वस्थ रखने का ठोस प्रयास करते रहना चाहिए। भगवान् ने हमें सर्वगुण संपन्न मानव देह प्रदान की है। सामान्य रूप से यह शरीर सौ वर्ष तक स्वस्थ रह

सकता है। कभी-कभी इससे अधिक भी, पर इसके लिए आवश्यक है कि हम बचपन से ही संयमी एवं सात्त्विक जीवनचर्या का पालन करें। आचार-विचार, आहार-विहार की पवित्रता से शरीर एवं मन दोनों ही स्वस्थ बने रहते हैं। भगवान् ने हमें जितनी भी आयु दी है, इस मानव देह में रहने की जो भी अवधि निर्धारित की है, उसका हमें सदुपयोग करते हुए इस जीवन का भरपूर आनंद उठाना चाहिए। वृद्धावस्था में तो यह इसलिए भी आवश्यक है जिससे हम अशक्त असहाय होकर दूसरों पर बोझ न बन जाएं।

प्राकृतिक जीवन अच्छे स्वास्थ्य का सर्वोत्तम साधन है। जहाँ तक संभव हो हमें प्रकृति के सान्निध्य में रहने का प्रयास करना चाहिए। आजकल की भागदौड़ की जिंदगी में हमारे लिए अनेक कृत्रिम साधनों का उपयोग करना मजबूरी बनता जा रहा है। घर से बाहर निकलने पर भी हर ओर प्रदूषण एवं शोर-शराबा ही दिखाई देता है। ऐसे में हम केवल यही कर सकते हैं कि जब भी मौका मिले प्रकृति की ओर भागें। सुबह उठकर कुछ देर खुली हवा में टहलें। नजदीक में ज़ो भी बाग, पार्क, खेत, नदी आदि हों वहाँ जाकर स्वच्छ एवं पवित्र वायु में गहरी साँसें लेकर जीवन शक्ति का संग्रह करें। अपने घर में भी जो स्थान उपलब्ध हो वहाँ पेड़-पौधे लगाएं। तुलसी के पौधे तो प्रत्येक घर में अवश्य ही होने चाहिए। यदि खाली जमीन न हो तो गमलों आदि में पौधे लगा सकते हैं। इससे प्रदूषण से भी छुटकारा मिलेगा और पवित्रता के साथ-साथ घर की सुंदरता भी बढ़ेगी।

वृद्धावस्था में शारीरिक क्रियाशीलता बहुत कम हो जाती है। पर हमें निष्क्रिय नहीं रहना चाहिए। हल्का-फुल्का व्यायाम अथवा योगासन अवश्य करें। टहलना सबसे अच्छा, सरल एवं निरापद व्यायाम है। अपनी अवस्था एवं रुचि के अनुरूप जैसा उचित समझें निश्चित कर लें और उसका

नियमित पालन करें। इस बात का ध्यान रखें कि निष्क्रिय एवं आलसी जीवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होती जाती है और बीमारियाँ हमें सरलता से अपना शिकार बना लेती है। इसके विपरीत प्राकृतिक एवं सक्रिय जीवनचर्या तथा व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है और रोगों के आक्रमण को सरलता से विफल कर देता है।

इसके बाद भी यदि कभी कोई रोग लग जाए तो प्राकृतिक साधनों से ही उसका उपचार करें। रोगाणुओं से लड़ने की अपार शक्ति इस शरीर में मौजूद है। अपनी इस शक्ति पर भरोसा रखें। कुछ समय भले ही लग जाए पर रोग स्वतः ही भाग जाएगा। मजबूरी होने पर ही अन्य कृत्रिम चिकित्सा पद्धतियों का सहारा लेना चाहिए। इनसे रोग जल्दी ठीक तो हो जाता है पर अन्य अनेक रोगों को यह जन्म भी देता है। इनसे बचते रहना ही उचित होगा।

स्वादेंद्रिय का संयम अच्छे स्वास्थ्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। अपने चटोरेपन के स्वभाव के कारण लोग मसालेदार, गरिष्ठ भोजन अधिक मात्रा में लेते रहते हैं। ऐसा भोजन सरलता से पचता नहीं है और शरीर में अनेक विकार उत्पन्न कर देता है जो आगे चलकर कई गंभीर रोगों को जन्म देते हैं। ४०-५० वर्ष की आयु के बाद पाचन तंत्र की क्रियाशक्ति क्षीण होने लगती है। ऐसे में जहाँ तक संभव हो हल्का, सादा एवं सुपाच्य भोजन ही लेना चाहिए। मौसम के अनुरूप सस्ते फल एवं शाक, दूध, शहद आदि अधिक ले सकें तो बहुत लाभ होगा। तामसिक एवं राजसिक भोजन का त्याग करके सात्त्विक भोजन ही अधिक पसंद करना चाहिए। वृद्धजनों को तो स्वयं ही इस सम्बन्ध में सतर्कता बरतनी होगी। प्रसन्नता जीवन की सबसे बड़ी शक्ति है। इससे शरीर और मन दोनों ही स्वस्थ एवं पुष्ट होते हैं। हर हाल में प्रसन्न रहने का स्वभाव बनाना चाहिए।

कठिनाइयाँ तो जीवन में आती रहती हैं। प्रसन्नता के साथ उनका सामना करना चाहिए। इससे हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास होता है। जीवन का आनंद दोगुना हो जाता है। छोटे बच्चों के समान खिलखिला कर हँसने और प्रसन्न रहने से शरीर तो स्वस्थ बनता ही है, अनेक मानसिक तनावों से भी छुटकारा मिल जाता है।

जीवन के प्रति सदैव एक सकारात्मक दृष्टिकोण रखना चाहिए। कुछ लोगों का स्वभाव इसके विपरीत ही होता है। उन्हें हर स्थिति में कुछ न कुछ बुराई ही दिखाई देती है। हर व्यक्ति शत्रु समान लगता है। वे हर समय किसी न किसी चिंता में डूबे रहते हैं। अपनी चिंता, घर-परिवार की चिंता, नौकरी या व्यापार की चिंता। इस से भी आगे, उनके मरने के बाद क्या होगा इस बात की चिंता। जो व्यक्ति सांसारिक माया-मोह में, लोभ-लालच में डूबे रहते हैं उनको चिंता का यह रोग बहुत सताता है। इस प्रकार चिंता करने से शरीर एवं मन दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्वयं को इस अकारण की चिंता से दूर रखने का प्रयास करना चाहिए। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन न करें। घर, परिवार, नौकरी, व्यापार और स्वयं अपने प्रति भी हमारे जो कर्त्तव्य हैं उन्हें पूरी निष्ठा से निभाएं। निःस्वार्थ भाव से चिंता मुक्त होकर कर्म करें। अपने नकारात्मक दृष्टिकोण को बदलें।

यदि हम अपनी जीवनचर्या को इस प्रकार संयमित एवं मर्यादित कर लेंगे तो मानसिक और शारीरिक रूप से सदैव स्वस्थ बने रहेंगे। जब स्वस्थ रहेंगे तो रचनात्मक कार्यों में व्यस्त भी रह सकेंगे। परिणाम स्वरूप जीवन के अंत समय तक सुख-शांति और आनंद की मस्ती में डूबे रहेंगे। मानव जीवन की यही तो सार्थकता है। इसी से वृद्धावस्था भी आनंदमय होगी।

वृद्धावस्था को जीवन का स्वर्णिम अवसर सिद्ध करें

परम पूज्य गुरुदेव के शब्दों में–वृद्धावस्था का सबसे सुन्दर उपयोग तो इसमें है कि जन कल्याणकारी पारमार्थिक प्रवृत्तियों में अपनी समस्त शक्तियों को लगा दिया जाये। अपनी पारमार्थिक रुचियों एवं प्रवृत्तियों का क्षेत्र व्यापक और विविधताओं से युक्त बना लेना और उनमें निमग्न हो जाना चाहिए। इससे न तो व्यक्ति को अपनी आयु के आँकड़ें गिनने का अवसर रहता है, न अतीत की स्मृतियों में डूबने का और न भविष्य की चिंताओं में खीजने का। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय जीवन व्यवस्था में अन्तिम समय को वानप्रस्थ, संन्यासी के रूप में बिताने का विधान रहा है। वृद्धावस्था में मनुष्य जीवन का प्रवाह एक नदी की धारा की तरह होना चाहिए जो हिमशिखरों से पतली धारा के रूप में तीव्र वेग से निकलता है और अनेक धाराओं को अपने अंक में समेटती है। सामने आये रोड़ों को टक्कर मारकर हटाती है, तो कभी नया रास्ता ग्रहण करती है। फिर मैदान में बहती है, धरती की प्यास बुझाती है। अन्त में शत–शत धाराओं में विभक्त हो, गम्भीरता के साथ विराट् समुद्र में प्रवेश करती है। मनुष्य वृद्धावस्था में पहुँचने तक पूर्णरूपेण 'स्व' से मुक्त हो परमार्थ को जीवन का अंग बना लें और निस्पृह भाव से सर्वजनहिताय कार्य करें तो वृद्धावस्था सचमुच ही जीवन का स्वर्णिम अवसर सिद्ध हो सकती है।

युग ऋषि के अनुसार ऐसा बुढ़ापा इस सृष्टि का एक दिव्य वरदान है। यह संसार और जीवन के अनुभव, ज्ञान व संघर्षों का सार भाग– नवनीत है। ऐसा बुढ़ापा जीवन विद्या का परिपक्व फल है जिसके रस की एक–एक बूँद असंख्य लोगों को नवजीवन प्रदान कर सकती है। ऐसा बुढ़ापा श्रद्धा, सम्मान का धवलपुंज है, जिसकी छाया में बैठकर नयी पीढ़ी नयी राह पा सकती है। ✿

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा